Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 13, Issue No. 2, July-2017, ISSN 2230-7540

बुद्धकालीन शिक्षा पद्धति में गुरू शिष्य सम्बन्धों की प्रासंगिकता

Shveta Kumari[1]* Dr. Ramakant Sharma[2]

[1] Researsch Scholar

[2] Research Supervisor, Sunrise University, Alwar, Rajasthan

सारांश:- ***प्राचीन भारतीय मनीषियों की सुविचारित मान्यता रही है कि ज्ञान मात्र पुस्तकों से ही नहीं प्राप्त होता है वरन् 'ज्ञान' का पहला केन्द्र परिवार होता है। बालक की पहली शिक्षक उसकी माता होती है तो दूसरा शिक्षक पिता। तदुपरान्त बालक अपने तीसरे शिक्षक आचार्य अथवा गुरू के पास पहुँचता है। प्राचीन बौद्धकालीन भारतीय शिक्षा के दो प्रमुख स्तम्भ रहें हैं- गुरू और शिष्य। गुरू तथा शिष्य की विशेषताओं तथा उनके परस्पर संबंधों को जाने बिना प्राचीन बौद्ध शिक्षा पद्धति को ठीक प्रकार से नहीं जाना समझा जा सकता है। बौद्ध एवं वैदिक दोनो प्रकार की शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य शिष्य का चरित्र-निर्माण तथा उसको समाज एवं राष्ट्र के निर्माण में मन, वाणी, तथा कर्म से संलग्न करने में सफल बना रहा है। आज की आधुनिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य शिष्य नहीं वरन् छात्र का व्यक्तिगत भौतिक अभ्युत्थान हो गया है। आज आवश्यकता है कि प्राचीन एवं बौद्ध युगीन गुरू - शिष्य संबंधों तथा दोनो की पात्रता से सीख लेकर आधुनिक शिक्षकों तथा छात्रों की अध्यापन-अध्ययन क्षमता का नितान्त निष्पक्ष एवं व्यापक मूल्यांकन किया जाए तथा उक्त मूल्यांकन को वैध, विश्वसनीय, वस्तुनिष्ठ, समयानुकुल एवं दोष रहित बनाया जाए।***

शब्द संकेत:- बुद्धकालीन शिक्षा, शिक्षा पद्धति एवं गुरू शिष्य सम्बन्ध।

----------X----------

भूमिका:-

प्राचीन भारतीय मनीषियों की सुविचारित मान्यता रही है कि ज्ञान मात्र पुस्तकों से ही नहीं प्राप्त होता है वरन् 'ज्ञान' का पहला केन्द्र परिवार होता है। बालक की पहली शिक्षक उसकी माता होती है तो दूसरा शिक्षक पिता। तदुपरान्त बालक अपने तीसरे शिक्षक आचार्य अथवा गुरू के पास पहुँचता है। प्राचीन बौद्धकालीन भारतीय शिक्षा के दो प्रमुख स्तम्भ रहें हैं- गुरू और शिष्य। गुरू तथा शिष्य की विशेषताओं तथा उनके परस्पर संबंधों को जाने बिना प्राचीन बौद्ध शिक्षा पद्धति को ठीक प्रकार से नहीं जाना समझा जा सकता है। गुरू शब्द को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है -"गृणाति उपदिशति वेदादि शास्त्राणि इति" अर्थात जो वेद शास्त्रों को स्वयं ग्रहण करता है तथा (शिष्यों को) इनका अनुदेश करता है 'गुरू' कहलाता है। शान्त, दान्त (दमित इच्छा वाला), कुलीन, विनीत, शुद्ध, वेश धारण करने वाला, शुद्ध आचरण वाला, सुप्रतिष्ठित, शुची (पवित्र), बुद्धिमान, आश्रमवासी, ध्याननिष्ठ, मंत्र-तंत्र विशारद, निग्रह-अनुग्रह में सक्षम व्यक्ति ही गुरू कहलाने का पात्र होता है

बौद्धकालीन शिक्षा व्यवस्था मठों एवं विहारों में होती थी जहाँ गुरू एवं शिष्य दोनो साथ - साथ रहते थे। इन मठों का संचालन भिक्षु संघों के हाथों मे होता था जिसकी आचार संहिता का अनुपालन गुरू एवं शिष्य दोनों के लिए अनिवार्य था। प्राचीन बौद्धकालीन भारत में शिक्षकों के लिए चार सम्बोधन प्रयुक्त होते थे- कुलपति, गुरू, आचार्य, और उपाध्याय। गुरू शब्द की व्युत्पत्ति पर ऊपर की पंक्तियों में प्रकाश डाला जा चुका है। कुलपति उसको कहा जाता था जो दस हज़ार छात्रों के भोजन आदि की व्यवस्था तथा उनके अध्ययन की व्यवस्था करने में समर्थ हो। स्पष्ट है अपने आश्रमों में रहने वाले छात्रों के अध्ययन, भोजन, वस्त्र, निवास, आदि का निःशुल्क प्रबन्ध करने वाले वशिष्ठ, भारद्वाज, विष्वामित्र, कण्व, शौनक जैसे कुलपति सभी प्रकार के साधनों एवं सम्पत्ति आदि से पूर्ण रूपेण सम्पन्न थे। श्री राम को मनाने के लिए अपनी माताओं, अमात्यों, कुलगुरू एवं चतुरंगिणी सेना के साथ भरत के चित्रकुट जाते समय, भारद्वाज ऋषि ने न केवल उनका राजोचित सत्कार किया था वरन् सैनिको, अनुचरों के साथ हाथी, घोड़ों के भी भोजन, चारे आदि की समुचित व्यवस्था की थी। शकुन्तला

www.ignited.in

को उसके पति सम्राट दुष्यन्त के यहां भेजते समय कुलपति कण्व ने पालिता शकुन्तला को राजोचित आभूषणों, वस्त्रों, प्रसाधनों आदि बहुमूल्य उपहारों को प्रदान किया था। कुलपति आरूणि ने अपनी सम्पन्नता के विषय में स्वयं कहा था कि उनके पास स्वर्ण गोधन, अश्व, दासियों, बहुमूल्य वस्त्र तथा कम्बल आदि पर्याप्त मात्रा में थे।

वेदों के अध्यापक, वैदिक मन्त्रों के व्याख्याता के व्याख्यता को आचार्य कहा जाता है। स्मृतिकारों के अनुसार द्विज शिष्यों उपनयन के पश्चात् जो वेदों के रहस्य आदि का सम्यक् ज्ञान कराता है वह आचार्य कहलाता है। शिष्य आचार्य से धर्म का ज्ञान प्राप्त करता है। छात्रों से किसी प्रकार शुल्क न लेने वाला आचार्य, उपाध्याय की तुलना में दस गुना सम्मानित था। जो शिक्षक शुल्क, वृत्ति (वेतन) अथवा धनादि के बदले वेद और वेदांगो का अध्यापन करता है वह उपाध्याय कहलाता है। वस्तुतः यह वेद अथवा वेदांग के किसी विशेष भाग का विशेषज्ञ होता है। वेतनभोगी उपाध्याय का समाज में प्रतिष्ठित स्थान न था। महाकवि कानिदास ने मालविकाग्निमित्र में जीविका के लिए शास्त्रों का अध्ययन करने वाले का वणिक कहा है। शिष्यों को समान भाव से देखने वाले पक्षपात रहित अनुशासनप्रिय आचार्य अथवा शिक्षक को वयोवृद्ध, लोभरहित, दंभरहित, विनम्र एवं मृदुस्वभाव का होना चाहिए। उपदेश्य (शिक्षक जिसको शिक्षा देता है) को शिष्य, छात्र, अन्तेवासी आदि संबंधो से पुकारा जाता है। प्राचीन शास्त्रकारों के अनुसार शान्त, विनीत, शुद्धात्मा, धारण करने में सक्षम, समर्थ, सच्चरित्र, व्रतवान तथा कुलीन होना चाहिए।

आर्यों में कुलीनता से तात्पर्य प्रारम्भा में वर्ण संबंधी श्रेष्ठता से नहीं था। ऋगवेद के 'कारूरहंभिशगु पल पछिनीनना' के अनुसार एक ही परिवार में माता (आटा पीसने वाली) शूद्रा, वैद्य का कार्य करने के कारण पिता वैष्य तथा कवि होने के कारण पुत्र ब्राह्मण हो सकता था। क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न होने के पशचात् भी अपने ज्ञान के कारण विष्वामित्र, देवापि तथा जनक ने ब्राह्मण वर्ण को प्राप्त किया था। जबाला नामक शूद्रा दासी के गर्भ से अज्ञात नाम-गोत्र पिता से उत्पन्न पुत्र सत्यकाम अपनी विद्वता के कारण सत्यकाम जाबाल नाम से बहुश्रुत हुआ। सत्य के प्रति इसकी आसक्ति को देखकर अपने समय के सुप्रसिद्ध ऋषि गौतम हारिद्रुमत ने इसका उपनयन संस्कार कर इसे ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी थी। औपनिदिशक साहित्य में इसके द्वारा संस्थापित तत्व ज्ञान की अनेक स्थानों पर चर्चा है। शुक्लयजुर्वेद का प्रणेता तथा उद्यालक आरूणि का सुप्रसिद्ध शिष्य याज्ञवल्क्य बाजसनेय ने वाद विवाद के पश्चात् सत्यकाम के अभिमत का प्रचार किया था। उपनिषदों के रचनाकार अश्वपति केकय, चरक प्रबाहण राजा अजातशत्रु आदि क्षत्रिय विद्वानों ने अनेक ब्राह्मणों को भारतीय दर्षन एवं धर्म का उपदेश दिया था। इसी भाँति शूद्रा इलुशा के गर्भ से उत्पन्न कवश ऋगवेद का सूक्तकार था। (ऋ0वे0 10.31.33) अपनी विद्वता के कारण राजा त्रसदस्यु के पुत्र कुरूश्रवण से इसने प्रचुर दान राशि प्राप्त की थी।(ऋ0वे010.33.45)। सरस्वती नदी के तटपर अंगिरस ब्राह्मणों द्वारा आयोजित सत्र में वह गया था। शूद्रापुत्र, अब्राह्मण तथा जुआड़ी कह कर इसे ब्राह्मणों ने पहले तो यज्ञ से निकाल दिया था किन्तु इसकी विद्वता से प्रभावित हो पुनः उसे सम्मानपूर्वक यज्ञ में वापस बुलाना पड़ा था। कलान्तर में वर्ण व्यवस्था के दूषित होने के साथ गुण कर्म के स्थान पर जन्म श्रेष्ठता का आधार बन गया। गुण कर्म के सिद्धांत के गौण होते ही वर्ण के निर्धारण में जन्म ही एक मात्र आधार रह गया।

वैदिक युग में गुरू-शिष्य संबंध, पिता-पुत्र के संबंध की भाँति मधुर एवं हार्दिक था। इसमे यदि ऊपर से स्नेह की निर्झरणी नीचे बहती थी तो नीचे से श्रद्धा का उर्ध्वगामी स्त्रोत अविरल बहता रहता था। शिक्षक बिना किसी शुल्क के छात्रों को जहाँ शिक्षा देते थे, शिष्य की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे, वही उनके मन में शिष्य से अनिवार्य रूप से दक्षिणा में धन प्राप्ति की लेश मात्र इच्छा नहीं रहती थी। शिष्य, शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् अपनी श्रद्धा एवं सामथ्र्य के अनुसार गुरू को जो कुछ समर्पित करता था, वही गुरू अथवा आचार्य को स्वीकार्य होता था।

वैदिक, उत्तर वैदिक तथा बौद्ध साहित्य में वर्णित गुरू किसी वर्ग विशेष, राज्य विशेष अथवा क्षेत्र विशेष का गुरू नहीं होता था, वरन् वह अपने शिष्य का गुरू होता था। अपने निकट पर्यवेक्षण में वह अपने शिष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करता था। बालक शिष्य को संस्कारित करके ही गुरू के पास ले जाया जाता था। इस संस्कार को 'उपनयन' कहा जाता था, जिसका शाब्दिक अर्थ है उप - समीप तथा नयन - ले जाना अर्थात बालक को गुरू के निकट ले जाना। गुरू भी अपने समीप लाये बालक को उसी प्रकार ग्रहण करता जिस प्रकार माँ उसको उदर में धारण करती थी।

शिक्षक बिना सम्यक् परीक्षण के प्रत्येक बालक को शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं कर लेता था, वरन् वह बालक की निष्ठा, आचरण एवं अन्य योग्यताओं के परीक्षण के उपरान्त ही शिष्य बनाता था। यह परिक्षण अवधि छः महीनो से वर्ष पर्यन्त की हो सकती है। (कूर्मपुराण) अन्यत्र यह अवधि छः मास की ही बताई गई है। प्राचीन शास्त्रकारों ने अयोग्य शिष्य को शिक्षा देने का निषेध किया है। अपात्र को शिक्षा देने की अपेक्षा गुरू का विद्या के साथ मर जाने का समर्थन मनु स्मृति में किया गया है। अन्यत्र ऊसर भूमि अर्थात् शिष्य को शिक्षा देने की अपेक्षा गुरू का विद्या के साथ मरण श्रेयसकर माना गया है। प्राचीन शिक्षा

पद्धति में शिक्षको के लिए वेतन प्राप्त करना सर्वथा निन्दनीय माना जाता था। महाभारतकार अध्यापन के निमित्त धन लेने को निन्दनीय कार्य मानता है। विष्णुस्मृति में इसको उपपातक माना गया है। याज्ञवल्क्य इसका समर्थन करता है।

शिक्षा के लिए शुल्क निर्धारित न होने पर भी समाज गुरू जनों तथा उनके परिवार की जीविका के प्रबंध के प्रति जागरूक था। राजा किसी न किसी बहाने गुरूकुलो को प्रचुर सम्पत्ति दान स्वरूप देता तो था ही, मनीषियों ने यह सामान्य व्यवस्था की थी कि शिष्यगण शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् अपने गुरू को सामर्थ्यनुसार दक्षिणा अवश्य अर्पित करें। सम्पन्न परिवारो के शिष्य तो सरलतापूर्वक दक्षिणा दे देते थे, कभी कभी हठी शिष्यों के दूराग्रह से अप्रसन्न गुरू इतनी अधिक दक्षिणा माँग लेते थे कि साधन रहित शिष्य राजाओं तथा सम्राटो को प्रसन्न कर उनकी सहायता से दक्षिणा देते थे।

श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन ज्ञानार्जन अथवा अध्यापन की तीन प्रतिक्रियाये थी। श्रवण के द्वारा शिष्य गुरू वाणी का ब्राहम स्वरूप ग्रहण करता था। मनन के माध्यम से वह गुरू वचनो का बौद्धिक परिग्रहण करता था। निदिध्यासन के द्वारा ही उसकी साधनात्मक अनुभूति करता था।

गुरू शिष्य का संबंध अत्यन्त आदरणीय, पवित्र तथा परस्परापेक्षी था। दोनों की परस्पर आवश्यकता तथा महत्ता दोनों के एक सुखी एवं सामान्य जीवन की परिकल्पना को मूर्तरूप देता था। शिष्य की निष्ठा, उत्साह, सदाचारिता तथा सुपात्रता से सन्तुष्ट होने पर ही गुरू उसे स्वीकार करता था। इन गुणों से हीन गुरू पुत्र तक शिक्षा से वंचित रह जाते थे। गुरू शास्त्रों की इस मान्यता का पूर्णतः पालन करता था, कि छः मास से वर्ष पर्यन्त सम्यक् परीक्षा के उपरान्त ही पुत्र अथवा शिष्य को शिक्षा देना चाहिए। शिष्य भी अपने गुरू की सेवा उसी प्रकार से करता था, जिस प्रकार अग्नि, देवतागण, राजा, पिता और स्वामी की सेवा की जाती थी। जैसे मनुष्य कुदाल अथवा खन्ती से भूमि खोदते खोदते पानी को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार गुरू की सेवा करता शिष्य अन्ततः गुरू की समस्त विद्यायों को ग्रहण कर लेता है:-

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति

तथा गुरूगतां विद्या शुश्रूशुरधिगच्छति।। (मनुस्मृति-2.218)

वैदिक कालीन गुरूकुलों की परम्परा में तक्षशिला, केकय, मिथिला, प्रयाग, काशी, कांची, चिरकाल तक परम्परागत भारतीय शिक्षा केन्द्र बने रहे। तक्षशिला का विश्वविद्यालय अथवा गुरूकुल सातवीं शती ई. में विदेशी आक्रान्ताओ द्वारा नष्ट किया गया किन्तु उत्तर भारत के कर्मकाण्डी पुरोहितों द्वारा दक्षिण भारत के कांजीवरम् में स्थापित धार्मिक विद्यायों का केन्द्र आश्चर्यजनक रूप से मध्यकाल तक सुरक्षित रह गया। शेष शिक्षा केन्द्र मुस्लिम आक्रमणों की आंधी में 8वीं शती में ही नष्ट हो गये। वर्ण अथवा जाति के स्थान पर कर्म को महत्वपूर्ण मानने वाले तथागत बुद्ध ने ई0 पू0 छठवीं शती में जिस नये "सद्-धर्म" की स्थापना की थी, उसको बौद्ध धर्म के नाम से जाना जाता है। भगवान बुद्ध के मध्यमार्गी क्रान्तिकारी विचारो से प्रभावित उनके अनुयायी भिक्षु तथा भिक्षुणियों की संख्या उनके जीवन काल में ही कई हजार तक पहुच गई थी। राजकीय सहायता एवं सम्पन्न उपासकों अथवा शिष्यों द्वारा प्रचुर सहायता राशि से शीघ्र ही बौद्ध भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के लिए अलग अलग मठों अथवा बौद्ध विहारों की स्थापना होने लगी। इनको संघाराम भी कहा गया। चूँकि भगवान बुद्ध के उपदेश धार्मिक एवं नैतिक थे शिष्य उपदेशकों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया अतएव शीघ्र ही ये संघाराम अथवा विहार बौद्ध धर्म की धार्मिक शिक्षा के केन्द्र बन गये। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि बौद्ध शिक्षा विशुद्धरूप से धार्मिक शिक्षा ही थी।

"मिलिन्दपन्हो" (मिलिन्द प्रश्न) नामक ग्रन्थ में अठारह शिल्पों (सिप्पों) के शिक्षा का पता चलता है। चिकित्सा के क्षेत्र में वैद्यराज धन्वंतरि, सुवैद्य चरक तथा सुप्रसिद्ध प्राणाचार्य जीवक जैसे अन्तर्राज्यीय ख्याति के चिकित्सकों की उपस्थिति चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की उन्नत दशा का प्रमाण है। तक्षशिला का विश्वविद्यालय चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन का प्रमुख केन्द्र था। मगधराज-बिम्बिसार के राजवैद्य जीवक ने दूरस्थ के राज चण्ड प्रद्योत की सफल चिकित्सा की थी। तक्षशिला, नालन्दा, वल्लभी, विक्रमशिला, सारनाथ, नदिया (नवद्विप) बौद्ध शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों में गिने जाते थे।

बौद्ध शिक्षा प्रणाली में गुरू तथा शिष्यों के मध्य अत्यंत मधुर तथा पवित्र संबंध होते थे। गुरू के लिए शिष्य यदि पुत्रवत था तो शिष्य भी गुरू का पितृवत् सम्मान करता था। शिक्षा का प्रशासन पूर्णरूपेण बौद्धसंघ के हाथों में था। बौद्ध धर्म के प्रति आस्था एवं अनुरक्ति के कारण इन शिक्षा केन्द्रों को राज्यों तथा सम्पन्न उपासकों से प्रचुर मात्रा में आर्थिक सहायता मिलने के अतिरिक्त भिक्षु तथा गुरूजन भिक्षाटन कर अपने दैनिक खर्च की व्यवस्था कर लिया करते थे।

बौद्ध-शिक्षालयों में छात्रों के प्रवेश के लिए किसी भी प्रकार का वर्ण अथवा जातिगत भेद भाव न था। प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क थी तो उच्च शिक्षा के लिए शुल्क देय था। विद्यालय के द्वार

www.ignited.in

पण्डितों द्वारा ली गई परीक्षा में सफलता के पश्चात् ही छात्रों को विद्यालय के अन्दर प्रवेश की अनुमति थी।

बौद्ध-विश्वविद्यालयों के पुस्तकालय अति सम्पन्न हुआ करते थे। उदाहरणस्वरूप नालन्दा विश्वविद्यालय का नौ खण्डीय पुस्तकालय भवन पुस्तकों अथवा ग्रन्थों की श्रेणी के अनुसार तीन भागों में विभक्त था। उदाहरणार्थ प्रथम भाग अथवा 'रत्नासार' में विभिन्न धर्मो की पुस्तकें थी तो दूसरा भाग रत्नोदधि" विविध ज्ञान ग्रन्थो का भण्डार था। तीसरे भाग "रत्नरंजक" में विभिन्न कलाओं से संबंधित पुस्तके रखी थी। सभी पुस्तकालयों में अनेक लिपिकार नियुक्त किये गये थे जिनका कार्य पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि करना था।

स्त्री शिक्षा के प्रकरण में बौद्धपरम्परा की उदारता के कारण वैदिक शिक्षा की तुलना में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त समुन्नत थी। यही कारण है कि खेमा, सुजाता, चम्पा, किसागोमति, विशाखा, पटाचारा, सुन्दरी, चिंचा, उत्पलवर्णा तथा सुकुला जैसी अनेक थेरियों ने बौधजगत में पुरूषों की भाँति ही सम्मान तथा श्रद्धा को प्राप्त किया था। एक कथा के अनुसार उत्पलवर्णा (उत्पलवन्ना) ने भिक्षुणी को सात वर्षो तक विनयपिटक पढ़ाया था किन्तु बार बार वह भिक्षुणी याद किये गये पाठ को भूल जाया करती थी। बौद्ध-शिक्षा पद्धति में उपाध्याय का स्थान अधिक महत्वपूर्ण था। कम से कम दस वर्ष के अध्यापन के अनुभव के पश्चात् ही कोई व्यक्ति उपाध्याय बन सकता था जब कि आचार्यपद के लिए छः वर्ष का अनुभव ही वांछित था।

पाँचवी शती ई. भारत आये चीनी यात्री फाहियान के समय मात्र स्वात् प्रान्त (आधुनिक प0 पाकिस्तान) में ही पाँच सौ संघाराम थे जिनमें हीनयान सम्प्रदाय के बौद्ध भिक्षु रहते थे। उसने तक्षशिला, पुरूषपुर (पेशावर), सकांक्षय (संकिसा-निकट मथुरा) कान्यकुब्ज, श्रावस्ती पाटलीपुत्र, राजगृह, गया तथा वाराणसी के बौद्ध शिक्षा केन्द्रों का भ्रमण किया था। फाहियान के लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् हेनसांग ने भारत की यात्रा की थी। उसने सैंकड़ो बौद्ध विहारों की यात्रा की थी। जलान्धर के निकट नगरधन विहार में चार महीने तक उसने चन्द्रवर्मा नामक आचार्य से विद्याध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त मतिपुर के विहार में चन्द्रप्रभा के नब्बे वर्षीय शिष्य मित्र सेन, नालन्दा के तिलोशक विहार में प्रसानभद्र तथा चम्पा अथवा मुंगेर के निकटवर्ती विहार में तथा गुप्त एवं क्षान्तिसिंह से महीनों तक अध्ययन किया था।उसने पाँच हजार बौद्ध विहारों का उल्लेख किया है। नालन्दा के तिलोशक विहार में छात्रों की संख्या 1000 थी। वह 645 ई. सन् में भारत से वापस लौटा था।

तीसरे चीनि यात्री इत्सिंग ने 672 ई0 में भारत में आगमन किया था। उसने कपिल वस्तु, बौधगया, श्रावस्ती, वाराणसी, कान्यकुब्ज, राजगृह,(नालन्दा) वैशाली, कुशीनगर और ताम्रलिप्ति का भ्रमण किया था। उसने दस वर्षो तक नालन्दा एवं चार मास तक ताम्रलिप्ति (तमलुक) में शिक्षा ग्रहण की थी। उसने वर्णमाला व्याकरण, संस्कृत गद्य-पद्य लेखन, धनुर्वेद, अध्यापन तथा शिक्षा जैसे विषयों में विशेष ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख किया है।

इत्सिंग ने विहारों गुरूजनों, शिष्यों तथा कर्मचारियों (कर्मदान, विहारपाल, द्वाररक्षक, उद्घोषक आदि) के भोजन व्यवस्था का उल्लेख किया है। खाने में घी, मक्खन, तेल और दूध की प्रचुरता का वह उल्लेख करता है। उसके अनुसार पश्चिमी जनपदों के विहारों में चावल और जौ की, उत्तर के जनपदों के विहारों में गेंहू की, मगध तथा पूर्वी विहारों में तथा दक्षिणी विहारों में चावल की प्रधानता का उल्लेख किया है। विहारों के पास अपनी भूमि होती थी, जिसमें कृषि कर्म किया जाता था। अनेक विहारों के कोषों में असंख्य धनराशि उपलब्ध थी।

वैदिक तथा बौद्ध विश्वविद्यालयों अथवा शिक्षा केन्द्रों में राजा अथवा राज्य पर आपदा के दिनों में अवकाश रहता था। राष्ट्रीय उत्सवों अथवा भंयकर वर्षा के दिनो में भी सार्वजनिक अवकाश होता था प्रतिपदा, अष्टमी, चर्तुदशी, पूर्णिमा को भी अवकाश रहता था। वैदिक गुरूकुलों में जहाँ शिक्षा का माध्यम संस्कृत भाषा थी, वही बौद्ध-विहारों में संस्कृत के साथ ही साथ धार्मिक विषयों एवं नीतिगत आचारों की शिक्षा पाली में दी जाती थी।

निष्कर्ष:-

बौद्ध एवं वैदिक दोनो प्रकार की शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य शिष्य का चरित्र-निर्माण तथा उसको समाज एवं राष्ट्र के निर्माण में मन, वाणी, तथा कर्म से संलग्न करने में सफल बना रहा है। आज की आधुनिक शिक्षा का प्रमुख उद्देष्य शिष्य नहीं वरन् छात्र का व्यक्तिगत भौतिक अभ्युत्थान हो गया है। मात्र धनोपार्जन तथा अपनी पत्नी एवं बच्चों की भौतिक सुविधा के प्रति सचेष्ठ छात्र के लिए नैतिक शिक्षा तथा सुसंस्कार सर्वथा गौण एवं त्याजय हो गये है। आधुनिक शिक्षा में समाज तथा राष्ट्र के प्रति विशेष लगाव की शिक्षा की ग्राह्यता प्राप्त हो गई है। शिक्षा में दिन प्रतिदिन बढ़ते भ्रष्टाचार ने परीक्षा पद्धति की पवित्रता को संदिग्ध बना दिया है। धन्ननासेठों, राजनेताओं, तथा शिक्षा के दलालों ने, व्यक्तिगत विद्यालयों एवं संस्थानों के माध्यम से अयोग्य शिक्षकों द्वारा स्तरहीन शिक्षा प्रदान कराकर छात्रों की अध्ययन वृति को गौण बना दिया है। प्रश्न पत्रों का "आउट होना" उत्तरपुस्तिका की जाँच के बिना अंकदान करना, आज आये दिन के घटना चक्र बन गये है। शिक्षा के सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक पक्षों में घोर असंतुलन शिक्षा की

सर्वग्राह्यता के मार्ग में रोड़े खड़े किये है। आज आवश्यकता है कि प्राचीन एवं बौद्ध युगीन गुरू - शिष्य संबंधों तथा दोनो की पात्रता से सीख लेकर आधुनिक शिक्षकों तथा छात्रों की अध्यापन-अध्ययन क्षमता का नितान्त निष्पक्ष एवं व्यापक मूल्यांकन किया जाए तथा उक्त मूल्यांकन को वैध, विश्वसनीय, वस्तुनिष्ठ, समयानुकुल एवं दोष रहित बनाया जाए।

संदर्भ:-

दामोदरन, के (1979): भारतीय चिन्तन परम्परा ; पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस (प्रा.) लिमिटेड; नई दिल्ली

मित्र, वेद, (1964): एजुकेशन इन एनसीएन्ट इण्डिया, आर्य बुक डिपो; नयी दिल्ली

पाण्डेय राम शकल (2005): भारतीय शिक्षा की रूपरेखा , विनोद पुस्तक मन्दिर; आगरा

शर्मा, डॉ. शंकर दयाल (2008): शिक्षा-दिशा और दृष्टि कोण, प्रवीण प्रकाशन; नई दिल्ली

मुखोपाध्याय, मर्मर , (2002): शिक्षा में सम्पूर्ण गुणवत्ता प्रबन्धन, नीपा; नई दिल्ली

गुप्त, नथ्थू लाल: महाभारत कालीन समाज और शिक्षा, नमन प्रकाशन; नई दिल्ली

Corresponding Author

Shveta Kumari*

Researsch Scholar